

# एक बहस में अयाचित हस्तक्षेप

2007 की शुरुआत में हुई भाकपा ( माओवादी ) की नवीं कांग्रेस में कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण मुद्दों पर मतभेद के कारण बहस हुई। इन मुद्दों पर बहस के बाद अल्पमत-बहुमत के आधार पर फैसला किया गया। यहां हमारे लिए महत्वपूर्ण बात यह है कि इनमें से कुछ मुद्दे एकदम बुनियादी प्रकृति के थे यानी वे भाकपा ( माओवादी ) की पूरी रणनीतिक लाइन और कार्यक्रम को बदल सकते थे। हालांकि हाल-फिलहाल फैसला पुरानी सोच के पक्ष में हुआ लेकिन ये मुद्दे खत्म होने के बदले ज्यादा शिष्ट से फिर उठेंगे और भाकपा ( माओवादी ) को भारतीय समाज की वर्तमान स्थिति के याथार्थ से दो चार होना ही पड़ेगा।

हम अपनी इस टिप्पणी में तीन मुद्दों को लेंगे : (1) भारत के पूंजीपति वर्ग के चरित्र का सवाल, (2) पंजाब में कृषि संबंधों का सवाल और (3) बुर्जुआ संसदीय चुनावों में भागीदारी का सवाल।

## I

### भारत के पूंजीपति वर्ग का चरित्र

भाकपा ( माले ) पीपुल्स वार और भाकपा ( माले ) पार्टी यूनिटी नामक दो पार्टी संगठनों की एकता के बाद जब एकीकृत संगठन भाकपा ( माले ) पीपुल्स वार ने 2001 में अपनी नवीं कांग्रेस की तो उसने अपने बुनियादी दस्तावेजों में एक महत्वपूर्ण नया सूत्रीकरण पेश किया। उसने कहा कि भारतीय समाज में तीन बुनियादी अंतर्विरोध कार्यरत हैं : साम्राज्यवाद और भारतीय जनता के बीच, सामंतवाद और भारतीय जनता के बीच तथा दलाल नौकरशाह बुर्जुआ और भारतीय जनता के बीच। इसमें तीसरा बुनियादी अंतर्विरोध महत्वपूर्ण परिवर्तन था। पहले दलाल नौकरशाह बुर्जुआ को बाकी दो के साथ नथी कर उसके स्वतंत्र अस्तित्व को नकार दिया जाता था। अब यह खुलेआम स्वीकार किया गया कि भारत के दलाल नौकरशाह बुर्जुआ का भारतीय जनता से स्वतंत्र अंतर्विरोध बनता है।

इस तीसरे बुनियादी अंतर्विरोध की स्वीकृति वस्तुतः भारत के पूंजीपति वर्ग की साम्राज्यवाद से स्वतंत्र हैसियत की ही स्वीकृति थी। पुराने सारे सूत्रीकरणों को न नकारते हुए भारत के पूंजीपति वर्ग की स्वतंत्र हैसियत का इसी रूप में सूत्रित किया जा सकता था। लेकिन यह मासूम सा लगने वाला नया सूत्रीकरण अपने दूरगामी अर्थों में बहुत मारक था। इसके इस रूप में सामने आते ही ढेरों अन्य नये सवाल खड़े हो जाते हैं। कहा जाता है कि पहले यह दलाल नौकरशाह बुर्जुआ पूर्णतया साम्राज्यवाद पर निर्भर था और उसकी सेवा करते हुए अपनी सेवा करता था। तब स्वतः ही सवाल खड़ा हो जाता है कि इसकी स्वतंत्र हैसियत कब से और कैसे बन गई? कब से यह भारतीय जनता के सामने स्वतंत्र दुश्मन की हैसियत से खड़ा हो गया? और अब भारतीय जनता के तीनों दुश्मनों- सामंतवाद, साम्राज्यवाद व दलाल नौकरशाह बुर्जुआ में प्रधान कौन है? इस दलाल नौकरशाह बुर्जुआ का भारत के प्रधान उत्पादन संबंध से क्या संबंध है? भारत में वस्तुतः कौन से उत्पादन संबंध प्रधान हैं? और इन सबकी रौशनी में भारतीय क्रांति की रणनीति और रास्ता क्या होना चाहिए?

ये सवाल एक के बाद एक खड़े हो जाते हैं और इन सबका सुसंगत उत्तर देने का कोई भी प्रयास किसी को भी वहां खड़ा कर देता है जहां नवजनवादी क्रांति के कार्यक्रम और दीर्घकालीन लोकयुद्ध का रास्ता गलत साबित हो जाते हैं। तब एकमात्र समाधान बचता है भारत के लिए ( और दुनिया के भी ज्यादातर देशों के लिए ) समाजवादी क्रांति का कार्यक्रम।

दीर्घकालीन लोकयुद्ध की लाइन को ध्रुव सत्य मानने वालों के लिए यह सूत्रीकरण वह फिसलन भरा रास्ता था जहां से वे अपनी समूची लाइन को छोड़ने के लिए बाध्य होते। और जब भाकपा ( माले ) पीपुल्स वार की एम.सी.सी.आई. से एकता वार्ता चली तो एम.सी.सी.आई. ने ठीक यही बात कही। कहा यहां तक जाता है कि एम.सी.सी.आई. ने यह शर्त रखी कि उपरोक्त सूत्रीकरण को वापस लिए बिना एकता नहीं हो सकती। हालांकि भाकपा ( माले ) पीपुल्स वार की पूरी केन्द्रीय समिति इस सूत्रीकरण को सही मानती थी फिर भी उसने उसे एकता की खातिर वापस ले लिया। यही नहीं उन्होंने वादा किया कि आने वाली एकता कांग्रेस में केन्द्रीय समिति के लोग इस मुद्दे को नहीं उठायेंगे और उन्होंने अपने वायदे का पालन किया ( देखें कर्नाटक राज्य कमेटी से अलग हुए लोगों को भाकपा ( माओवादी ) का जवाब जहां उन्होंने इस मामले में अवसरवाद करने के आरोप का खंडन करते हुए भी वास्तविकता को स्वीकार कर लिया है। तर्क यह दिया गया

है कि भारतीय क्रांति का एक केन्द्र गठित करने के सबसे महत्वपूर्ण कार्यभार को ध्यान में रखकर इसे स्वीकार कर लिया गया।)

लेकिन तब भी कांग्रेस में तो यह मुद्दा उठना ही था। यदि भाकपा (माले) पीपुल्स वार ने अपनी पिछली कांग्रेस में इसे स्वीकार किया था तो पार्टी संगठन के बाकी लोग इसे आसानी से छोड़ देने को तैयार नहीं होते। तब तो और भी नहीं जब भाकपा (माले) पार्टी यूनियन में 1987-88 से इस तरह की बातें बहस का मुद्दा रही हों।

कांग्रेस में बहस में हुई और बहुमत से पुरानी सोच को ही मान्यता दी गई। हालांकि कांग्रेस में जिस रूप में मामला पेश हुआ वह इस रूप में था : क्या दलाल नौकरशाह बुर्जुआ शासक वर्गों के मोर्चे में नेतृत्वकारी भूमिका निभाता है अथवा नहीं और कि क्या यह साम्राज्यवाद द्वारा हमारे देश के शोषण का प्रधान माध्यम है अथवा जमींदार वर्ग व दलाल नौकरशाह बुर्जुआ दोनों मुख्य माध्यम हैं?

सवाल का इस रूप में प्रस्तुतीकरण महत्वपूर्ण है। यह दलाल नौकरशाह बुर्जुआ और भारतीय जनता कि बीच स्वतंत्र अंतर्विरोध की बहस से एक कदम पीछे की बहस है। लेकिन यदि पहला दृष्टिकोण स्वीकार कर लिया जाता तो फिर बहस देर-सबेर उसी बिन्दु पर लौट आती। यदि दलाल नौकरशाह बुर्जुआ को शासक वर्गों में नेतृत्वकारी मान लिया जाता और यह मान लिया जाता कि यह देश के साम्राज्यवाद द्वारा शोषण का प्रधान माध्यम है तब सामंतवाद स्वतः ही गौण हो जाता। यही नहीं इसके मुकाबले साम्राज्यवाद भी दूसरे दर्जे पर चला जाता क्योंकि साम्राज्यवादी शोषण का प्रधान माध्यम होने के बावजूद साम्राज्यवाद के मुकाबले में यह नेतृत्वकारी भूमिका में होता। इस तरह देखा जाय तो यह बहस रूप में एक कदम पीछे होने के बावजूद सारतत्त्व में दो कदम आगे हो रही थी क्योंकि इसका मतलब भारत के पूंजीपति वर्ग की प्रधान भूमिका की स्वीकृति होता। इसका मतलब यह होता कि देश में जमींदार गौण हैं और इसीलिए वे जिन उत्पादन संबंधों का प्रतिनिधित्व करते हैं यानी सामंती उत्पादन संबंध, वे भी गौण हैं अर्थात् देश में पूंजीवादी उत्पादन संबंध प्रधान हैं। साम्राज्यवादी शोषण का प्रधान माध्यम बुर्जुआ के होने का यह मतलब भी होता कि साम्राज्यवाद मूलतः पूंजी के मेकेनिज्म से देश का शोषण कर रहा है, सामंती संबंधों से नहीं। यह भी देश में पूंजीवादी संबंधों की प्रधानता को इंगित करता। और चूंकि शासक वर्गों के गठजोड़ में बुर्जुआ (भले ही वह दलाल नौकरशाह हो) प्रधान है इसलिए साम्राज्यवाद स्वतः ही दूसरे दर्जे पर चला जाता है। यह सब प्रकारान्तर से भाकली (माले) की मूल लाइन की स्वीकृति होती। यह भाकपा (माओवादी) की पूरी लाइन में उलट-फेर होता। इसीलिए क्रांतिकारियों की जड़ता इसके सामने खड़ी हो गयी।

दलाल नौकरशाह बुर्जुआ को प्रधान भूमिका में मानने वाले लोगों ने मूलतः यही तर्क दिया कि सत्ता हस्तांतरण के बाद भारत के शासक वर्ग को पतनोन्मुखी और असंगठित सामंती वर्ग नेतृत्व नहीं दे सकता था जबकि उसके मुकाबले ज्यादा विकसित बुर्जुआ वर्ग खड़ा हो। भारतीय शासक वर्ग की सारी नीतियां यही दलाल नौकरशाह बुर्जुआ वर्ग बनाता है।

प्रश्न को इस रूप में पेश करने वाले प्रकारान्तर से यही कहना चाहते थे कि 1947 में सत्ता हस्तांतरण के बाद से पूंजीपति वर्ग हावी है, वह अपने हितों के हिसाब से नीतियां बनाता रहा है। इसमें वह साम्राज्यवादी हितों का भी ध्यान रखता है। अब दलाल नौकरशाह बुर्जुआ और साम्राज्यवादी बुर्जुआ दोनों बुर्जुआ हैं। तब फिर भारत का पूंजीपति वर्ग देश में पिछले 60 सालों से सामंती संबंधों को क्यों ढोयेगा? ये संबंध उसका कौन सा हित साधन करेंगे? यह तो हो सकता है कि वह उनका क्रांतिकारी तरीके से उच्छेद न करे, लेकिन उन्हें बनाकर क्यों रखेगा? वह उन्हें क्रमशः, गैर क्रांतिकारी तरीके से, सुधारवादी तरीके से खत्म करने की ओर, पूंजीवादी उत्पादन संबंधों को स्थापित करने की ओर क्यों नहीं जायेगा? और यदि वह देश के शासन में हावी है, शासक वर्ग के गुट में प्रधान है तो यह प्रधानतः अपना हित क्यों नहीं देखेगा, वह साम्राज्यवाद का हित क्यों देखेगा? वह ऐसा क्यों नहीं करेगा कि अपने हितों को देखते हुए साम्राज्यवाद से सामंजस्य बैठाये? और तब जब भारत जैसा विशाल साधन सम्पन्न भू-भाग उसके कब्जे में हो तो उसकी क्या मजबूरी होगी?

विरोधियों ने जो तर्क दिये वे कम्युनिस्ट क्रांतिकारी खेमे में प्रचलित निगमनात्मक (Deductive) पद्धति का नमूना हैं। इसकी मुख्य बात यह है कि साम्राज्यवाद के युग में दलाल नौकरशाह बुर्जुआ साम्राज्यवाद और सामंतवाद से ऊपर नहीं हो सकता। वह हमेशा साम्राज्यवाद से संबद्ध रहेगा और उसके मातहत रहेगा भले ही थोड़ा-बहुत पूंजी का विकास हो जाय क्योंकि स्वयं यह विकास साम्राज्यवाद के मातहत होगा। विरोध पक्ष खुलेआम यह कहता है और यही इसका मुख्य भय है कि यदि दलाल नौकरशाह बुर्जुआ की शासक वर्ग में नेतृत्वकारी भूमिका को मान लिया जाता है तो इसका मतलब यह मान लेना होगा कि इसका देश में सामंतवाद और साम्राज्यवाद दोनों पर प्रभुत्व है और इस कारण से भारतीय क्रांति के लिए सामंतवाद और साम्राज्यवाद के मुकाबले इसका महत्व ज्यादा है। और मामले का सार भी यही है।

इसे मानने का मतलब होगा नव जनवादी क्रांति और दीर्घकालीन लोकयुद्ध की लाइन का त्याग। और भला यह कैसे किया जा सकता है?

विरोध पक्ष यह भी कहता है कि दलाल नौकरशाह बुर्जुआ का कोई सामाजिक आधार नहीं है जबकि सामंतवाद का पिछड़ी कृषि अर्थव्यवस्था में तथा साम्राज्यवाद का वित्त पूंजी में आधार है। यह नायाब तर्क है। देश के सालाना उत्पादन में आज कृषि 20 प्रतिशत से भी कम है। शेष उद्योग व सेवा क्षेत्र हैं। लेकिन इन्हें इसमें कोई सामाजिक आधार नहीं दीखता। देश की लगभग एक तिहाई आबादी शहरों में रहती है, इसमें उन्हें कोई आधार नहीं दीखता। स्वयं कृषि में उत्पादन संबंधों के सवाल पर हम अगले हिस्से में बात करेंगे।

उनका अंतिम तर्क यह है कि भारत के बुर्जुआ के बारे में भाकपा ( मार्क्सवादी ) की भी यही लाइन है जिसके खिलाफ नक्सलबाड़ी धारा का जन्म हुआ। भला इसे कैसे स्वीकार किया जा सकता है? यह तर्क लाजवाब है। इसके हिसाब से तो हमें मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्टालिन को मानना बंद कर देना चाहिए क्योंकि भाकपा ( मार्क्सवादी ) भी इन्हें मानने का दावा करती है। महत्वपूर्ण यह नहीं है कि भाकपा ( मार्क्सवादी ) भी भारत के पूंजीपति वर्ग की शासक वर्गों में नेतृत्वकारी भूमिका मानती है, महत्वपूर्ण यह है कि वह इससे क्या निष्कर्ष निकालती है? अन्यथा तो भाकपा ( मार्क्सवादी ) भी भारत में जनवादी क्रांति ( जनता की जनवादी क्रांति ) की मंजिल मानती है, सामाजवादी क्रांति की नहीं। तब आपको इसे भी मानना बंद कर देना चाहिये।

स्पष्ट है कि पुरानी सोच की जड़ता और अपनी बुनियादी लाइन में आमूल उलटफेर का भय ही इन्हें सही दिशा में कदम बढ़ाने से रोक रहा है।

## II

### हरित क्रांति और कृषि में उत्पादन संबंध

भारत के पूंजीपति वर्ग के चरित्र के साथ-साथ देश के विकसित इलाकों ( पंजाब व हरियाणा ) में कृषि संबंधों में आये बदलाव भी नवगठित भाकपा ( माओवादी ) में मतभेद का मुद्दा बने। वे इस कदर थे कि एकता के समय ही तय किया गया कि पंजाब व हरियाणा में कृषि संबंधों में आये बदलावों का अध्ययन करने के लिए एक स्टडी टीम गठित की जाय। इस टीम का गठन किया गया, इसने वृहद और सूक्ष्म दोनों स्तरों पर अध्ययन किया। और अध्ययन के बाद यह टीम भी दो हिस्सों में बंट गई। एक ने बदलावों के बावजूद अर्द्ध सामंती संबंधों की बात कही तो दूसरे ने विकृति के बावजूद पूंजीवादी संबंधों की।

एक ने कहा : हालांकि प्रमुख उत्पादन संबंध अर्द्ध-सामंती बने हुए हैं, ध्यान देने योग्य परिवर्तन यह मांग करते हैं कि हम बड़े जमींदारों की प्रमुखता वाले इलाकों से यहां ज्यादा विस्तारित रणकौशल विकसित करें।

दूसरे ने कहा : पंजाब में पूंजीवादी उत्पादन संबंध प्रमुख हैं हालांकि वे विकृत हैं, अर्द्ध सामंती संबंधों के साथ घुले-मिले हुए हैं, उन पर सामंती चरित्र की छाप है, और पूरे देश की अर्थव्यवस्था के साथ-साथ पंजाब पर भी साम्राज्यवाद और दलाल नौकरशाह बुर्जुआ के प्रभुत्व, नियंत्रण और शोषण के कारण इसकी स्वाभाविक वृद्धि और विकास की कठोर सीमाएं हैं।

यहां सहज ही दृष्टव्य है कि दूसरा पक्ष काफी सारी सीमाओं को बताने के बावजूद पंजाब में पूंजीवादी उत्पादन संबंध की प्रमुखता को स्वीकार करता है। यदि उसके द्वारा गिनाई गई सीमाएं जरूरत से ज्यादा प्रतीत होती हैं तो केवल इसीलिए कि यह पक्ष भी अपनी पुरानी सोच से मुक्त होने की प्रक्रिया से गुजर ही रहा है।

अपने सारतत्व में दूसरा पक्ष ढेर सारी वही बातें कहता है जो भाकली ( माले ) पिछले पच्चीस सालों से कहती आ रही है। वे भी 'ऊपर से सुधार' की, क्रमशः रूपान्तरण के 'जुंकर रास्ते' की बातें करते हैं। वे भी मुक्त उजरती श्रम की बातें करते हैं। वे भी कृषि में पूंजी संचय, किसानों के विभेदीकरण और भूमि के संकेन्द्रण की बात करते हैं। वे भी विपरीत किरायेदारी की बात करते हैं। वर्तमान कृषि संकट के बारे में वे कहते हैं कि इससे गरीब, मध्यम और कुछ धनी किसानों को नुकसान हुआ है जबकि बड़े पूंजीवादी भूस्वामी इससे लाभान्वित हुए हैं। पंजाब में देहाती सर्वहारा का अलग संगठन बनाया जाना चाहिए और किसान संगठन के साथ इसका संयुक्त मोर्चा कायम होना चाहिए।

स्वभावतः ही वे इन सारी बातों को करते हुए साम्राज्यवाद और दलाल नौकरशाह बुर्जुआ के बारे में अपने पुराने दृष्टिकोण से बात करते हुए चलते हैं। लेकिन इनकी मूल दिशा ठीक है। इसे इसकी तार्किक परिणति तक पहुंचाया जाय तो सीधा सा निष्कर्ष निकलता है कि न केवल पंजाब बल्कि समूचे देश की कृषि में ही पूंजीवादी उत्पादन संबंध प्रधान हैं।

पहला पक्ष जो पंजाब में पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों की प्रमुखता से इंकार करता है, वह मूलतः वही तर्क देता है जो लम्बे समय से दिये जाते रहे हैं। इसका मूल सार यह है कि साम्राज्यवाद के वर्तमान युग में भारत जैसे देशों में पूंजीवादी उत्पादन संबंधों का विकास नहीं हो सकता।

यह पक्ष कहता है कि हमें सामंती और अर्द्ध-सामंती संबंधों में फर्क करना चाहिए। और इसके बाद वह पंजाब में जो कुछ है उसे अर्द्ध-सामंती संबंधों की श्रेणी में रख देता है। इसकी अर्द्ध-सामंती संबंध की श्रेणी ऐसी बन जाती है जिसमें वर्तमान साम्राज्यवादी देशों के पूंजीवाद के अलावा सारा कुछ समाहित हो जाता है। वह हर परिवर्तन का अपने भीतर समेट लेगा। हद तो यहां तक हो जाती है कि वह पंजाब की कृषि के लिए कहता है कि उसे देखने के लिए पंजाब में मैनुफैक्चरिंग और उद्योग तथा वहां के शहरों में पूंजीवादी संबंध को भी देखना चाहिए। वह सारे देश की अर्थव्यवस्था के बदले पंजाब की खेती को पंजाब के उद्योग व शहर से जोड़ता है।

वह कहता है कि पिछड़े देशों में साम्राज्यवाद और उसके गुर्गे दलाल नौकरशाह बुर्जुआ द्वारा आंतरिक पूंजीवादी विकास को रोकने के बारे में लेनिन के विश्लेषण को लागू किया जाना चाहिए। भगवान जाने लेनिन ने ऐसी बातें कहां की हैं? अपनी 'साम्राज्यवाद, पूंजीवाद की चरम अवस्था' में तो उन्होंने ठीक उलटी बात कही है। वहां उन्होंने कहा है कि पूंजीवाद का सबसे तेज विकास उपनिवेशों और समुद्रपार के देशों में हो रहा है। यही नहीं, उन्होंने चिह्नित किया कि इसी कारण (पूंजी के निर्यात के कारण) साम्राज्यवादी देशों में विकास किसी हद तक अवरुद्ध हो रहा है।

यह पक्ष कहता है कि साम्राज्यवाद और दलाल नौकरशाह बुर्जुआ की विशाल पूंजी के कारण पूंजीवादी संबंधों का विकास नहीं हो रहा है बल्कि आबादी के भारी हिस्सों का विस्थापन हो रहा है। यह ऐसा अजीबो-गरीब तर्क है जिसका कोई सिर-पैर नहीं है। साम्राज्यवादी और देशी बुर्जुआ की पूंजी यदि लोगों को विस्थापित करेगी तो क्या बिना पूंजी के मेकेनिज्म के? क्या बिना पूंजीवादी संबंधों को स्थापित किये वह लोगों को विस्थापित कर सकती है? लोग विस्थापित होकर करेंगे क्या? कैसे जिन्दा रहेंगे? क्या बिना मजदूर बने? यदि वे मजदूर बनेंगे तो क्या यह पूंजीवादी संबंधों का विकास नहीं होगा? और भला पूंजीवाद विकास कैसे करता है? यह पक्ष कहता है कि बहुराष्ट्रीय कंपनियां और दलाल नौकरशाह बुर्जुआ आगतों और पूंजीगत मालों के माध्यम से किसानों का ज्यादातर अधिशेष छीन लेता है। यदि ऐसा है तो यह अर्द्ध-सामंतवाद कैसे है? और फिर पूंजीवाद में उद्योग कृषि का दोहन कैसे करता है? कैसे कृषि के दोहन पर उद्योगों का विकास होता है? इसी तरह। यह पूंजीवाद है, अर्द्ध-सामंतवाद नहीं।

यह पक्ष कहता है कि पंजाब में मजदूर मुक्त नहीं हैं जबकि पूंजीवाद में मजदूर मुक्त होते हैं। राम जाने दोनों पक्षों में से किसकी बात तथ्यतः सही है क्योंकि दूसरे पक्ष ने कहा था कि पंजाब में स्थाई मजदूरी पर 2 प्रतिशत खर्च होता है जबकि अस्थायी मजदूरी पर 16 प्रतिशत (खेतों पर स्थाई मजदूरों को ये अर्द्ध बंधुआ मजदूर कहते हैं)। एक ही अध्ययन से दो भिन्न-भिन्न आंकड़े कहां से आ गये? सही बात यही है कि मुक्त श्रम से इंकार करने वाला पक्ष तथ्यों को विकृत कर रहा है।

इसके बाद यह पक्ष साधारण माल उत्पादन और विस्तारित पैमाने का माल उत्पादन समझाता है और बताता है कि पंजाब के गरीब और मध्यम किसान साधारण माल उत्पादन में लगे हुए हैं। यह भी शानदार कथन है। हम जानते हैं कि मार्क्सवादी दृष्टिकोण से अपनी परिभाषा में ही गरीब व मध्यम किसान वह श्रेणी है जो संचय नहीं कर सकती। गरीब किसान थोड़ी सी खेती पर गुजर बसर करता है और अक्सर ही अपनी श्रम शक्ति बेचता है। मध्यम किसान मूलतः अपने श्रम से जिन्दा रहता है। वह मौसम में थोड़ी श्रम शक्ति खरीदता है। वह थोड़ी-बहुत बचत भी कर लेता है लेकिन इससे वह पूंजीपति की श्रेणी में नहीं पहुंच सकता। स्वभावतः ही ये ऐसे वर्ग हैं जो 'साधारण माल उत्पादन' करते हैं, यानी आगतें खरीद कर उत्पादन करते हैं और उत्पादन बेच कर अपनी कुछ जरूरतें पूरी करते हैं व आगतों का दाम चुकाते हैं। लेकिन यह तो किसी भी पूंजीवाद में गरीब-मध्यम किसान करता है। उत्पाद बेच कर संचय करने वाला धनी किसान और पूंजीवादी फार्मर होता है, गरीब व मध्यम किसान नहीं। ये धनी किसान व पूंजीवादी फार्मर उजरती श्रमिकों का शोषण करते हैं। तो क्या 'साधारण माल उत्पादन' करने वाला गरीब व मध्यम किसान पूंजीवादी उत्पादन संबंधों के बाहर होता है? नहीं। वह इसके भीतर होता है और उससे बंधा होता है। वह इन संबंधों का शिकार भी होता है। इन संबंधों के कारण ही पूंजीवादी फार्मर व धनी किसान तथा शहरी उद्योगपति उसका शोषण करते हैं। वह आगतें खरीदता है और उत्पाद बेचता है। इस खरीद-बेच में ही उसके शोषण को मेकेनिज्म छिपा है। मंहगी आगतों से शहरी उद्योगपति उसका शोषण करते हैं जबकि सस्ते उत्पाद से देहाती पूंजीपति उसका शोषण करते हैं। वह जहां का तहां रहता है तो इस कारण कि उसके द्वारा पैदा किया गया अधिशेष बाजार संबंधों के द्वारा दूसरे छीन लेते हैं। इस तरह 'साधारण माल उत्पादन' ही उसके शोषण का माध्यम बन जाता है। सिर्फ यही नहीं कि वह अपने अधिशेष से वंचित रह जाता है बल्कि उसकी जमा

पूँजी (साथ में जमीन) भी धीमे-धीमे उसके हाथ से निकल जाती है। पूँजी छोटी सम्पत्ति को इसी तरह नष्ट करती है। गरीब-मध्यम किसान इसी तरह बर्बाद होकर अंततः मजदूर बन जाता है।

इस तरह 'साधारण माल उत्पादन' वह छलावा है जिसकी आड़ में पूँजी के शोषण के मेकेनिज्म को देखने से इंकार किया जाता है और उसे अर्द्ध-सामंतवाद कह दिया जाता है। वस्तुतः छोटे व मध्यम किसान का चरित्र और उसका भविष्य कुल सामाजिक व्यवस्था के चरित्र से तय होता है, इसका उलटा नहीं होता। स्वतंत्र किसान सामंतवाद में भी होता है और पूँजीवाद में भी। लेकिन उसका चरित्र व नियति पूँजीवाद या सामंतवाद से तय होती है, ये खुद समाज का पूँजीवादी या सामंतवादी चरित्र तय नहीं करते।

भारत में धनी किसानों और पूँजीवादी फार्मरों द्वारा पूँजीवादी माल उत्पादन हो रहा है और इसी प्रक्रिया में फंसकर गरीब व मध्यम किसान तबाह हो रहे हैं। गरीब-मध्यम किसानों की तबाही का कारण अर्द्ध-सामंतवाद नहीं, पूँजीवाद है भले ही इस पूँजीवाद को कितने ही विशेषणों (विकृत इत्यादि) से विभूषित कर लिया जाय।

यह पक्ष कहता है कि पंजाब के किसानों में विभेदीकरण नहीं हो रहा है। मजे की बात यह है कि दूसरे पक्ष के मुकाबले यह कोई आंकड़े पेश नहीं करता, केवल दावा करता है। लेकिन बिना विभेदीकरण माने देहातों में लगातार बढ़ रही खेतिहर मजदूरों और भूमिहीन किसानों की संख्या, देहाती आबादी के शहरी आबादी के मुकाबले कम होने और देहातों की आबादी में 2003 से निरपेक्ष कमी को कैसे स्पष्ट किया जा सकता है? बिना विभेदीकरण हुए शहरों में इतनी भारी आबादी कैसे पलायन कर रही है? क्यों सरकार को ग्रामीण रोजगार योजना जैसी योजना लागू करनी पड़ रही है?

तथ्यों का एक बार फिर खेल करते हुए यह पक्ष कहता है कि पंजाब में विपरीत किरायेदारी की परिघटना ठहर गई है, जबकि पहला पक्ष इसे विकासमान चीज बताता है। कौन सा पक्ष तथ्यतः सही बयान कर रहा है?

यह पक्ष खेती में उधार की बात करता है। वह कहता है कि पंजाब में कुल उधार का 55% बैंकों से और 45% आढ़तियों से आता है। बैंक तो इनकी नजर में भी आधुनिक, पूँजीवादी उधार संस्था हैं और ये उधार का बहुलांश देते हैं। रही बात आढ़तियों की तो इन्हें समग्र अर्थव्यवस्था के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। ये देश की कृषि मंडी से जुड़े हुए हैं। इनका चरित्र एकदम वैसा ही नहीं है जैसा पूर्व पूँजीवादी व्यापारिक पूँजी का था। और हमें नहीं भूलना चाहिए कि मार्क्स ने (फ्रांस के छोटे किसानों का जिक्र करते हुए) किसानों के विभेदीकरण और छोटे-मझोले किसानों की बर्बादी में इस पूँजी की भूमिका को रेखांकित किया था। यह किसानों की पूँजीवादी तबाही की ही प्रक्रिया है, किसी ठहरावग्रस्त अर्द्ध-सामंतवाद का लक्षण नहीं है।

इस पक्ष के तर्क कई बार समझ से परे चले जाते हैं। यह कहता है कि पंजाब के किसान खेती से पैदा हुए मुनाफे को उद्योग या मैनुफैक्चरिंग में नहीं लगाते बल्कि व्यापार, जमीनों की खरीद-फरोख्त, यातायात, सूदखोरी इत्यादि में लगाते हैं इसलिए ये मार्क्स के हिसाब से पूँजीवादी संचय नहीं करते। यह अर्द्ध-सामंतवाद का द्योतक है। इसके बाद वे कहते हैं कि यदि वे खेती में वापस निवेश करते हैं तो केवल अर्द्ध बंधुआ मजदूर का और शोषण करने के लिए या फिर श्रम को विस्थापित करने के लिए मशीनरी खरीदने में। अब इसे क्या कहा जाय? कोई भी सामान्य मार्क्सवादी यही कहेगा कि सूदखोरी को छोड़कर इन देहाती लोगों को जो कुछ करते बताया गया है, वह पूँजीवाद है। व्यापार, जमीनों या यातायात में निवेश पूँजीवादी निवेश है जो मुनाफा कमाता है। इसी तरह कृषि में निवेश पूँजीवादी निवेश है भले ही वहां जबर्दस्ती बंधुआ मजदूरी को देखा जा रहा हो। हमें याद रखना चाहिए कि अमेरिका में 1865 तक दक्षिणी राज्यों के देहाती पूँजीपति बंधुआ मजदूरों से नहीं बल्कि गुलामों से खेती करवाते थे और उनके गुलाम होने पर कोई संदेह नहीं था। ये देहाती पूँजीपति इसी कारण पूँजीवादी सम्बन्धों से परे नहीं हो जाते थे। पंजाब में बंधुआ मजदूर नहीं है और अर्द्ध बंधुआ मजदूर कहकर मामले से किनारा नहीं किया जा सकता। बाकी रही श्रम को विस्थापित करने के लिए मशीनों के इस्तेमाल की बात तो इससे पूँजीवाद के अलावा और क्या ध्वनित होता है? यह शुद्ध पूँजीवादी परिघटना है।

पंजाब में बड़े पैमाने पर मशीनों के इस्तेमाल (2005 में 4.41 लाख ट्रैक्टर, 11.5 लाख ट्यूबवेल, 3 लाख थ्रेशर व 82000 कम्बाइन्स) का जिक्र करने के बाद फिर यह पक्ष अपना नायाब मार्क्सवाद पेश करता है। वह कहता है कि ये मशीनें व पूँजी की गहनता केवल बड़े फार्मों में ही अधिशेष पैदा करती हैं। छोटे और मझोले किसानों के मामले में ट्रैक्टर बेशी मूल्य नहीं पैदा करते बल्कि केवल श्रम को विस्थापित करते हैं। इसे सुनकर तो मार्क्स अपनी कब्र में करवटें बदलने लगेंगे। मशीन कब से बेशी मूल्य पैदा करने लगी? मार्क्सवाद यही कहता है कि बेशी मूल्य मजदूर पैदा करता है। बेशी मूल्य मजदूर द्वारा किये गये अतिरिक्त श्रम से पैदा होता है। पूँजीपति वर्ग कहता है कि उसकी मशीनें मुनाफा कमाती हैं। पूँजीपति वर्ग का यह प्रचार क्रांतिकारी कब से अपना सिद्धान्त बनाने लगे? वस्तुतः सारी मशीनें श्रम को विस्थापित करती हैं चाहे उन्हें पूँजीपति इस्तेमाल करें या अपने ही श्रम पर निर्भर छोटा उत्पादक। इसलिए यह कहना निरर्थक है कि छोटे व मझोले किसानों के मामले में मशीनें केवल श्रम को विस्थापित करती हैं। और यहां फिर यह बात दोहराने की है कि छोटे

और मझोले किसान अपनी परिभाषा में ही ऐसे किसान हैं जो या तो बेशी मूल्य नहीं हड़पते (श्रम शक्ति को खरीदकर) या अत्यन्त थोड़ा (मझोले किसान के मामले में) हड़पते हैं। इसलिए इनके संदर्भ में बेशी मूल्य न हड़प पाने की बात करना बेमानी है। हां, इसका उल्टा जरूर होता है। पूंजी के मेकेनिज्म से देहाती व शहरी पूंजीपति खुद इनके द्वारा पैदा किया गया अधिशेष (और जमा पूंजी भी) हड़पते हैं। इसे ये भी स्वीकार करते हैं लेकिन इसे पूंजीवाद का अवश्यंभावी परिणाम मानने के बदले अर्द्ध-सामंतवाद घोषित कर देते हैं। मार्क्सवादी सिद्धान्तों की इस दुर्गति से तो यही लगता है कि यह पक्ष मूलतः सर्वहारा दृष्टिकोण पर खड़ा न होकर छोटे-मझोले किसान के दृष्टिकोण पर खड़ा है, उस छोटे-मझोले किसान के दृष्टिकोण पर जो पूंजीवाद में समृद्ध होना चाहता है, धनी किसानों व पूंजीवादी फार्मरों की तरह मुनाफा कमाना चाहता है और ऐसा न कर पाने पर पूंजीवाद को नहीं बल्कि किसी अन्य को (भाग्य को या फिर अर्द्ध-सामंतवाद को) दोषी ठहराता है। उसके हिसाब से यदि आदर्श पूंजीवाद होता और किस्मत साथ देती तो वह भी पूंजीपति बन जाता।

इसके बाद यह पक्ष वही पिटा-पिटाया अपना सूत्र दोहराता है कि साम्राज्यवाद चूंकि प्रगतिशील नहीं बल्कि पतनशील है इसलिए यह सामंती सम्बन्धों को नष्ट कर पूंजीवाद सम्बन्धों को जन्म नहीं दे सकता। इसीलिए भारत जैसे अर्द्ध-औपनिवेशिक अर्द्ध-सामंती देश में जुंकर रास्ते से रूपान्तरण संभव नहीं है। यदि थोड़ा बहुत देशी पूंजी का विकास होगा भी तो वह सीमित ही रहेगा। जैसा कि पहले इंगित किया गया है यह लेनिन की बातों के खिलाफ है। यही नहीं, यह स्टालिन द्वारा 1930 में कही गई बात के भी खिलाफ है जब उन्होंने उपनिवेशों में पूंजीवाद के तेज विकास की बात कही थी। इसके आधार पर दक्षिण कोरिया जैसे देशों का कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया जा सकता।

खेती में किसी भी परिवर्तन से इंकार करना इनके बस में भी नहीं है। इसलिए इन्होंने एक अन्य शब्दावली का इस्तेमाल किया है। इनके अनुसार पंजाब में न तो परंपरागत जमींदार हैं और न ही पूंजीवादी फार्मर और कुलक। जो हैं वे हैं पूंजीवादी जमींदार जैसे (प्रो कैपिटलिस्ट लैण्डलार्ड)। अब इसे क्या कहा जाय? एक सामान्य से यथार्थ से इंकार करने के लिए इस तरह की उलट-बासियां की जाती हैं। चूंकि पंजाब में पूंजीवादी संबंधों और पूंजीवादी फार्मर तथा कुलकों की मौजूदगी से इंकार करना है इसलिए इस तथाकथित पूंजीवादी जमींदार जैसे वर्ग की बात करो।

यह पक्ष एक बार फिर लेनिन का हवाला देते हुए कहता है कि मैनुफैक्चरिंग और उद्योग का विकास वह मुख्य शक्ति है जो पूंजीवाद के विकास को जन्म देती है और बढ़ाती है। उनके अनुसार पंजाब में चूंकि उद्योगों का विकास नहीं हो रहा है इसलिए खेती में पूंजीवाद का विकास नहीं हो रहा है। अब इस शानदार तर्क का क्या किया जाय? इन लोगों के हिसाब से तो पंजाब एक अलग देश है इसलिए वे वहां कृषि में विकास के लिए वहीं उद्योग का विकास देखना चाहते हैं। अन्यथा तो वे आसानी से देख लेते कि पंजाब भारत का एक हिस्सा है और पंजाब में इस्तेमाल होने वाली उद्योग की ज्यादातर चीजें बाहर (अन्य प्रदेशों) से आती हैं और पंजाब का ज्यादातर कृषि उत्पाद बाकी प्रदेशों में बिकता है। इसलिए पंजाब की कृषि में विकास को पूरे देश में उद्योग के विकास से जोड़कर देखना चाहिए। तब सवाल यह बनेगा कि क्या देश में उद्योग का विकास हो रहा है? और तब उत्तर मिलेगा कि हां हो रहा है। आजादी के बाद से ही देश में उद्योग की औसत विकास दर पांच-छः प्रतिशत सालाना रही है। यह दर पहले औद्योगिकृत हुए किसी भी देश में तब की विकास दर से कम नहीं है। तथ्यों के प्रति यदि इनका इस कदर उपेक्षा का भाव न होता तो वे सहज ही देख लेते कि पंजाब की खेती में जिस विशाल पैमाने पर मशीनरी का उन्होंने हवाला दिया है वह देश में ही पैदा होती है और इनके उत्पादन में प्रधान हिस्सा देशी पूंजीपतियों का है। इसी तरह खाद, बीज, कीटनाशक का भी मामला है। जब लेनिन कृषि व उद्योग के अतर्सम्बंध की बात कर रहे थे तो उसका यही मतलब है कि खेती उद्योग को कच्चा माल (खाद्य सामग्री समेत) प्रदान करेगी जबकि उद्योग खेती को मशीनें, रसायन इत्यादि। और यह पंजाब सहित सारे देश में हो रहा है।

यह पक्ष देश में तेजी से हो रहे शहरीकरण को स्वीकार करता है लेकिन कहता है कि यह स्वरोजगार और सेवा क्षेत्र को ही जन्म दे रहा है, उद्योग को नहीं। यदि यह बात सच भी हो तो क्या यह पूंजीवाद नहीं रह जाता? क्या यह अर्द्ध-सामंतवाद हो जाता है? बात एकदम उलट है। तेजी से शहरीकरण देश के पूंजीवादीकरण का ही परिणाम है। लोग देहातों में खेती या दस्तकारी से उजड़ कर शहर की ओर पलायन कर रहे हैं। वे वहां या तो मजदूरी कर रहे हैं (उद्योग व सेवा क्षेत्र दोनों में) या स्वरोजगार में लग रहे हैं (भले ही ठेले-खोमचे वाला स्वरोजगार)। यह शुद्ध पूंजीवाद है। यह समाज में पूंजी के प्रसार का द्योतक है। यह प्रसार यदि ज्यादातर आबादी के लिए बदहाली लेकर आ रहा है तो यह इसका चरित्र है। इससे भिन्न विकास पूंजी नहीं कर सकती। पूंजीवादी विकास का मतलब पूंजीवादी संबंधों का प्रसार, पूंजी व पूंजीपति वर्ग का विकास है। इसका मतलब जनता का विकास नहीं है। वहां तो केवल बदहाली, और ज्यादा बदहाली है। मजे की बात है कि कभी-कभी यही लोग कहते हैं कि चूंकि शहरीकरण तेज गति से नहीं हो रहा है इसलिए इससे साबित होता है कि पूंजीवाद का विकास नहीं हो रहा है, यहां अर्द्ध-सामंतवाद है। इस तरह के दोतरफा तर्कों के सामने कोई भी नतमस्तक हो जायेगा।

अंत में यह पक्ष कहता है कि पहले जो थोड़ा-बहुत विकास हुआ भी था वह ध्वस्त हो रहा है। आज का कृषि संकट ऐसा है जैसा 1947 के बाद कभी नहीं रहा। लेकिन यह पूंजीवादी संकट नहीं है। यह साम्राज्यवाद और दलाल नौकरशाह बुर्जुआ की लूट का परिणाम है। कभी-कभी न चाहते हुए भी सच्चाई मुंह से निकल ही जाती है। वर्तमान कृषि संकट के लिए यहां सामंती तत्वों, अर्द्ध-सामंती संबंधों को जिम्मेदार नहीं ठहराया गया है। यदि देहात में अर्द्ध-सामंती संबंध प्रधान हैं और भारतीय जनता का प्रधान अंतर्विरोध इसी से है तो फिर संकट के लिए भी यही प्रधान होगा लेकिन यहां संकट का प्रधान कारण बुर्जुआ की लूट को (साम्राज्यवादी और देशी बुर्जुआ की लूट) बताया गया है। देशी-विदेशी बुर्जुआ द्वारा किसानों की भयंकर लूट बिना पूंजी के मेकेनिज्म के कैसे संभव है? भारत के किसानों से सरकार न तो भारी मात्रा में लगान लेती है और न प्रत्यक्ष कर। तब फिर किसान कैसे बुर्जुआ द्वारा लूटे जा रहे हैं? इस सवाल को इस रूप में पेश करते ही उत्तर मिलता है कि यह किसानों को आगतों की बेच और उनके उत्पाद की खरीद से हो रहा है। लेकिन यह तो पूंजीवादी तरीका, वह सूक्ष्म तरीका जिससे तबाह होते किसान को अपनी तबाही के असली कारण का पता भी नहीं चल पाता। लेकिन खरीद-बेच के द्वारा पूंजीवादी लूट का तरीका खेती में पूंजीवादी संबंधों की प्रधानता के बिना संभव नहीं है।

सही बात यही है कि आज छोटे-मझोले किसानों को देशी-विदेशी पूंजीपति ही लूट रहे हैं (हमारी राय में प्रधान भारत का पूंजीपति वर्ग है जो स्वतंत्र है, दलाल नहीं)। और इसलिए यह संकट पूंजीवादी संकट है। भारत की कृषि में वर्तमान संकट का चरित्र पूंजीवादी है, अर्द्ध-सामंती नहीं। अनजाने में ही, इस पक्ष ने सही बात को प्रकारांतर से स्वीकार कर लिया है।

इस पक्ष की उपरोक्त सारी बातों और तर्कों से स्पष्ट है कि इसकी अर्द्ध-सामंतवाद की थीसिस गलत है। यह मार्क्सवादी सिद्धान्तों के विकृतीकरण, गैर मार्क्सवादी अवधारणाओं और तथ्यों से आंख चुराने तथा उनकी गलत व्याख्या पर आधारित है। यह थीसिस तर्कों की रोशनी में ठहर नहीं पाती। यह पक्ष इतना कमजोर है कि कई बार वह अपने ही खिलाफ बातें कर जाता है।

इस सबके बावजूद जब कांग्रेस में मतदान हुआ तो पुरानी सोच की जड़ता के कारण बहुमत ने अर्द्ध-सामंतवाद की थीसिस के पक्ष में वोट दिया। इसने यह फैसला दिया : विकृत पूंजीवादी संबंधों के विकास के रूप में कुछ परिवर्तनों के बावजूद, कृषि सम्बंध मुख्यतः अर्द्ध-सामंती हैं।

### III

## चुनाव बहिष्कार का रणकौशल

यह महत्वपूर्ण बात है कि इस कांग्रेस में बुर्जुआ संसदीय चुनावों में भागीदारी के सवाल को रणकौशल के रूप में ही लेने का मामला उठा। और यह मुद्दा उठाया खुद केन्द्रीय समिति के कुछ सदस्यों ने। यह एक अन्य कोण से पुरानी सोच के ढीले पड़ने का सूचक है।

इस पार्टी के रणनीति और कार्यनीति नामक दस्तावेज में यह बात कही गई है : “चुनावों का बहिष्कार वैसे तो रणकौशल का सवाल है लेकिन भारत की ठोस परिस्थितियों में यह रणनीति का महत्व ग्रहण कर लेता है क्योंकि यह दीर्घकालीन लोक युद्ध की रणनीति से जरा भी सुसंगत नहीं है”।

इस सूत्रीकरण को बदलने के लिए केन्द्रीय समिति के कुछ सदस्यों ने प्रस्ताव रखा। उन्होंने कहा कि, हमें इस सूत्रीकरण को छोड़ देना चाहिए और केवल यह कहना चाहिए कि चुनावों में हिस्सेदारी और बहिष्कार का मामला केवल रणकौशल का सवाल है। उन्होंने कहा कि, चुनाव के सवाल को रणनीति के स्तर पर रखना गलत है क्योंकि ऐसे अवसर आ सकते हैं जब हम चुनाव का इस्तेमाल करें। इससे शासक वर्गों के अंतर्विरोधों का फायदा उठाया जा सकता है। उन्होंने कहा कि किसी रणकौशल के लगातार इस्तेमाल से वह रणनीति के स्तर पर नहीं पहुंच जाता। उनका अंतिम तर्क यह था कि खुश्चोव के आगमन के बाद चुनाव बहिष्कार को रणनीति के स्तर पर पहुंचा देना गलत था क्योंकि चुनावों में हिस्सेदारी खुश्चोवी संशोधनवाद के आने के बाद पैदा नहीं हुई थी।

इनके जवाब में केन्द्रीय समिति के बहुमत ने कहा कि, बर्नस्टीन और ब्राउडर जैसे संशोधनवादियों के लिए संसद में भागीदारी या संसदवाद खुश्चोव से बहुत पहले ही रणनीति बन गई थी लेकिन इसने खुश्चोवी संशोधनवाद के आगमन के साथ ही विशेष महत्व ग्रहण किया क्योंकि उसी ने सोवियत पार्टी की बीसवीं कांग्रेस में ‘समाजवाद में शांतिपूर्ण संक्रमण’ का सिद्धान्त पेश किया। इसलिए यह कहना सही है कि खुश्चोवी संशोधनवाद के आगमन के बाद संसद में

भागीदारी के सवाल ने रणनीति की हैसियत पा ली है। इसलिए चुनाव में भागीदारी का सवाल केवल रणकौशल का सवाल नहीं रह जाता बल्कि रणनीतिक महत्व ग्रहण कर लेता है।

जहां तक किसी रणकौशल के देर तक इस्तेमाल की बात है तो मामला यह नहीं है। यह रणनीति का सवाल इसलिए बन जाता है क्योंकि इसका रणनीति से सीधा संबंध है।

जहां तक लेनिन द्वारा रूस में इस रणकौशल के इस्तेमाल की बात है तो उसे भारत में यंत्रवत लागू करना जड़सूत्रवाद होगा। यह संसदवाद की ओर गंभीर भटकावों को जन्म देगा। हमें शासक वर्गों के बीच के अंतर्विरोधों से फायदा उठाना चाहिए लेकिन इसे चुनावों में भागीदारी या चुनाव में किसी पार्टी का समर्थन करने से नहीं मिश्रित करना चाहिए।

कांग्रेस ने बहुमत से केन्द्रीय समिति के बहुमत की बात को स्वीकार किया।

यहां बहस के बिन्दु काबिले गौर हैं। बुर्जुआ चुनावों में भागीदारी के रणकौशल का सवाल होने या न होने को उठाकर एक नये धरातल पर पहुंचा दिया गया है। कहा जाय तो इसका सैद्धान्तीकरण कर दिया गया है।

यह सिद्धान्त पेश किया गया है कि चूँकि ख्रुश्चोवी संशोधनवाद ने चुनावों को रणनीति के स्तर पर पहुंचा दिया (शांतिपूर्ण संक्रमण) इसलिए चुनावों ने रणनीतिक महत्व हासिल कर लिया। चूँकि संशोधनवादियों ने चुनावों में भागीदारी का रणनीतिक नारा पेश किया इसीलिए क्रांतिकारियों को इसका उलटा करना चाहिए, चुनाव बहिष्कार को अपनी रणनीति बना लेना चाहिए। संशोधनवादी चूँकि चुनावों में भागीदारी करते हैं इसलिए क्रांतिकारियों को इसका बहिष्कार करना चाहिए। इसी से इसका एक अन्य निष्कर्ष भी पैदा होता है : जो चुनावों में भागीदारी करते हैं वे संशोधनवादी हैं और जो बहिष्कार करते हैं वे क्रांतिकारी।

महत्वपूर्ण बात यह है कि यह नीति सभी देशों पर लागू होती है चाहे वह उपनिवेश, अर्द्ध-उपनिवेश या नव-उपनिवेश हों अथवा पूंजीवादी, साम्राज्यवादी देश।

यहां पहली बात तो यह है कि यह महान बहस में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की अवस्थिति का पूर्णतया निषेध है। वहां चुनाव को रणकौशल का ही मामला बताया गया है। इस रूप में कहा जाय तो इन्होंने मार्क्सवाद का 'विकास' किया है।

इतिहास के तथ्यों पर भी उनकी बात सही नहीं उतरती। यहां कहना सही नहीं है कि ख्रुश्चोवी संशोधनवाद ने चुनावों को रणनीतिक महत्व प्रदान किया। समूचे दूसरे इंटरनेशनल ने यह किया था। और जितना उन्होंने सिद्धान्त में किया, उससे ज्यादा व्यवहार में किया। यहां बर्नस्टीन अकेला नहीं था। समूचा द्वितीय इंटरनेशनल इसी जमीन पर खड़ा था, कम से कम व्यवहार में। बुर्जुआ संसदीय चुनावों में भागीदारी दूसरे इंटरनेशनल के समूचे काल में सर्वहारा के संघर्ष और संगठन का मुख्य रूप था। लेकिन इसके बावजूद लेनिन ने क्या किया? दूसरे इंटरनेशनल के पतन के बाद उसके पतन के सारे कारण लेनिन के सामने स्पष्ट हो गये। इसमें एक उसका संसदवाद भी था। तब लेनिन ने क्या रुख अपनाया? क्या उन्होंने चुनावों के बहिष्कार का रणनीतिक नारा पेश कर दिया? क्या उन्होंने यह कहा कि चूँकि दूसरे इंटरनेशनल के सारे प्रत्यक्ष/परोक्ष संशोधनवादी संसदवादी थे इसलिए हमें चुनावों का हमेशा बहिष्कार करना चाहिए?

लेनिन ने ठीक इसका उलटा किया। उन्होंने 1920 में 'वामपंथी' कम्युनिस्टों को यह समझाया, और काफी विस्तार व धैर्य से समझाया कि उन्हें बुर्जुआ चुनावों को रणकौशल के रूप में लेना चाहिए और जब तक जनता का महत्वपूर्ण हिस्सा (बहुमत जरूरी नहीं) उसमें विश्वास करता है तब तक उसमें हिस्सेदारी कर उसका और बुर्जुआ व्यवस्था का भंडाफोड़ करना चाहिए। 'वामपंथी कम्युनिज्म एक बचकाना मर्ज' लेनिन ने ठीक इसी उद्देश्य के लिए लिखी। कुछ 'वामपंथी' कम्युनिस्ट बुर्जुआ चुनावों के रणनीतिक बहिष्कार की बात कर रहे थे।

लेनिन की और इतिहास की इन बातों को आंखों से ओझल कर देना बहुत खराब किस्म का मार्क्सवाद है। जैसा कि पहले कहा गया है यह 'महान बहस' में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की लाइन के विरोध में है।

रूसी क्रांति में लेनिन के रणकौशल के मामले में भी यहां ठीक बात नहीं कही गई है। लेनिन ने रूस में उस दूमा में भागीदारी के लिए अपनी पार्टी की नीति प्रस्तुत की जो बहुत कम अधिकार सम्पन्न थी। वह सामान्य बुर्जुआ संसद होने से कोसों दूर थी। लेनिन इस मंच तक का इस्तेमाल करने के पक्षधर थे। लेकिन यहां इस रणकौशल की बात उठते ही भारत में उसके यंत्रवत अनुकरण के खिलाफ दुहाई दी जाने लगती है। यह खासा मजेदार है। चीन की दीर्घकालीन लोकयुद्ध की रणनीति की राई-रत्ती नकल करने वाले (वस्तुतः शब्दशः नकल करने वाले) जब यांत्रिकता व जड़सूत्रवाद की बात करते हैं तो मामला खासा रोचक हो जाता है। इन्हें लेनिन के रणकौशल (चुनाव) के मामले में भारतीय कम्युनिस्टों का जड़सूत्रवाद तो दीख जाता है लेकिन माओ की रणनीतिक लाइन (दीर्घकालीन लोक युद्ध) के मामले में नहीं। यहां तिनका तो नजर आ रहा है, लेकिन लट्ठा नहीं।

यहां वास्तव में असल चीज अंत में उभर कर आती है। यह है 'संसदवाद की तरफ गंभीर भटकाव' का खतरा। और यही चीज मुख्य है। यदि चुनावों में भागीदारी को संशोधनवाद और बहिष्कार को क्रांतिकारी व्यवहार मान लिया जाता है तो इस खतरे की आशंका स्वतः पैदा हो जाती है क्योंकि इस दृष्टि से तो हर भागीदारी गंभीर भटकाव होगी। और फिर दूसरे इंटरनेशनल से लेकर स्टालिन के बाद कम्युनिस्ट पार्टियों का व्यवहार सामने है। भारत के भी ढेर सारे कम्युनिस्ट क्रांतिकारी गुप्तों का व्यवहार सामने है जो चुनाव बहिष्कार के नारे को त्यागकर इसका रणकौशल की तरह इस्तेमाल करने के लिए आगे बढ़े और संसदवाद के दलदल में जा धंसे। इस इतिहास को देखते हुए 'गंभीर भटकाव' की आशंका तो जायज है। लेकिन क्या केवल आशंका के चलते रणकौशल का सवाल रणनीति के सवाल में बदल जायेगा?

उपरोक्त बातों से स्पष्ट है कि चुनावों के बारे में केन्द्रीय समिति के बहुमत की और फिर कांग्रेस के बहुमत की नीति गलत है। यह भी पुरानी सोच से मुक्त न हो पाने का उदाहरण है। लेकिन इस सवाल का कांग्रेस में उठना यह दिखाता है कि वहां जड़सूत्रवाद से मुक्ति की छटपटाहट तेज हो गई है। कुछ लोग नये सिरे से सोचने के लिए आगे आ रहे हैं।

कुल मिलाकर देखा जाय तो कांग्रेस में हुयी ये बहसें यह दिखाती हैं कि भारतीय समाज का यथार्थ इस पार्टी संगठन के जड़सूत्रवाद से टकरा रहा है और वह इसके एक हिस्से में अभिव्यक्ति पा रहा है। इस पार्टी संगठन का एक हिस्सा हिचकिचाते हुए ही सही भारतीय समाज के यथार्थ से दो-चार होने का प्रयास कर रहा है। वह जड़सूत्रवाद से मुक्त होने के लिए प्रयास कर रहा है। स्वाभाविक सी बात है कि शुरू-शुरू में यह बहुत कुछ पुराने सूत्रीकरणों के आवरण में ही होगा। केवल ज्यादा गहनता पाने पर ही पुराने सूत्रीकरणों को एकबारगी त्यागना संभव हो पायेगा।

लेकिन तब भी यह अच्छी शुरुआत है। यह भारत की क्रांति के लिए शुभ संकेत है। यह पार्टी संगठन पुराने जड़सूत्रों और पुरानी पड़ चुकी रणनीति तथा रणकौशल से जितना जल्दी पिंड छोड़ा लेगा, उतना ही अच्छा होगा। शुरुआत हो चुकी है, इसे जल्दी से जल्दी मंजिल तक पहुंचना चाहिए।

